© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology

''भारतीय काव्यशास्त्र में सम्प्रदायों का विकास''

दीपचन्द यादव
शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

काव्यशास्त्र, काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय–समय पर उद्भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है।

युगानुरुप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है। फलतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। भारत में भरत के सिद्धान्तों से लेकर आज तक और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर अद्यतन, नवआलोचन तक के सिद्धान्तों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। भारत में काव्य, नाटकादि कृतियों को 'लक्ष्यग्रन्थ' तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थों को 'लक्षण ग्रन्थ' कहा जाता है ये लक्षण ग्रन्थ सदा लक्ष्य ग्रन्थ के पश्चाद्भावनी तथा अनुगामी हैं और महान कवि इनकी लीक को चुनौती देते देखे जाते हैं।

काव्यसौन्दर्य की परख करने वाले शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' कहते हैं। प्रारम्भिक काल में मुख्य रूप से इसके लिये काव्यालंकार शब्द का प्रयोग होता था। इसीलिये काव्यशास्त्र के आदि युग के सभी आचार्यों ने अपने–अपने ग्रन्थों का नाम 'काव्यालङ्कार रखा है। इन ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों का ही वर्णन नहीं है अपितु सौन्दर्य की परीक्षा के लिये गुण, दोष, रीति, अलंकार, सम्प्रदाय आदि जिन–जिन तत्त्वों के ज्ञान की आवश्यकता है उन सभी का वर्णन इन ग्रन्थों में मिलता है। इसलिये इन नामों में आये हुए 'अलंकार' शब्द को सौन्दर्यपरक मानकर काव्यसौन्दर्य के प्रतिपादक शास्त्रों के लिये काव्यालङ्कार नाम का प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

जहाँ तक रही सम्प्रदायों के विकसित होने की बात तो ये सम्प्रदाय इन्हीं अलंकारशास्त्रों की स्थितियों के आधार पर प्रस्फुटित हुए। चूँकि लगभग 500 वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्कारशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता है। उसका शास्त्रीय निरुपण मुख्यतः भरतमुनि से प्रारम्भ होता है और 18वीं शताब्दी तक लगभग 2 हजार वर्ष के

बीच में अलंकारशास्त्र का इतिहास फैला हुआ है।[1] इस काल का विभाजन अधिकांश विद्वानों ने निम्नलिखित प्रकार से किया है जिसमें सभी मुख्य छः सम्प्रदाय समाहित हैं।

1. प्रारम्भिक काल (अज्ञात काल से लेकर भामह तक)
2. रचनात्मक काल (भामह काल से लेकर आनन्दवर्धन तक)
3. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धनकाल से लेकर मम्मट तक)
4. व्याख्याकाल (मम्मटकाल से लेकर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर तक)

प्रारम्भिक काल में भरत और भामह दो मुख्य आचार्य थे। भरत का 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ साहित्यशास्त्र का मुख्य ग्रन्थ है इसमें रस और नाटक के सूक्ष्मतत्त्वों का विवेचन किया गया है।

दूसरा काल रचनात्मक काल था। यह बहुत महत्त्वपूर्ण काल था इसमें साहित्यशास्त्र के रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय इन चारों मुख्य सम्प्रदायों के मौलिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस काल में उद्भट, रुद्रट, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन आदि प्रमुख आचार्य थे।

साहित्यशास्त्र का तीसरा काल निर्णयात्मक काल था। इसमें कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रतिपादन करने वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ था। इसी काल में रुद्रट भटट, भोजराज आदि आचार्य प्रतिष्ठित हुए।

साहित्यशास्त्र का चौथा सबसे लम्बा काल व्याख्याकाल था जो मम्मट से लेकर पण्डित विश्वेश्वर तक फैला था। इसी काल में विश्वनाथ जयदेव आदि ने काव्य की सर्वांगपूर्ण विवेचना की है और साहित्य के सम्पूर्ण विषयों को लेकर अपने ग्रन्थों की रचना की है।

कालविभाग के उपर्युक्त प्रकरण में जो लोग रस को काव्य की आत्मा मानते हैं वे रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखे गये हैं। जो अलंकारों को काव्य की आत्मा मानते हैं वे अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखे गये हैं। इसी प्रकार रीति को ही काव्यात्मा मानने वाले रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। ध्वनि को मानने वाले ध्वनि के अन्तर्गत एवं वक्रोक्ति को काव्यात्मा मानने वाले वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं।

रस सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय, सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है इसके संस्थापक आचार्य भरतमुनि हैं। यद्यपि राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में आचार्य भरत से भी पूर्व नन्दिकेश्वर को रस का प्रतिष्ठापक माना है[2], किन्तु इनका ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण भरतमुनि को ही इस रस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। उस समय नाट्य व काव्य पर्याय रूप में प्रयुक्त होते थे।

मुख्यतः नाट्य ही समीक्षा का विषय था। भरतमुनि ने 'रस' को ही प्रेक्षकों की प्रवृत्ति का नियोजक माना।[3] रस के विषय में सर्वप्रथम विवेचन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में ही पाया जाता है। भरतमुनि का रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' रस सिद्धान्त का प्राणभूत है। आचार्य ने छठें अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। इनके रस सिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप में आचार्य भट्टलोल्लट, भट्टनायक, श्रीशंकुक तथा अभिनवगुप्त प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके मतों की चर्चा प्रकृत ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में की गयी है।[4]

आचार्य भामह, उद्भट आदि ने 'रस' को नाट्य के लिए ही उपयोगी माना है। सम्भवतः उनके समय तक नाट्य व काव्य में भेद माना जाने लगा था।

अलंकार सम्प्रदाय

कालक्रम के अनुसार रस सम्प्रदाय के बाद दूसरा सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय आता है। इसके प्रवर्तक आचार्य भामह माने जाते हैं। उनके व्याख्याकार 'भामहविवरण' के निर्माता उद्भट और उनके बाद दण्डी, रुद्रट, जयदेव आदि आचार्य इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी भी रस की सत्ता को स्वीकार करते हैं परन्तु इसे प्रधानता नहीं देते हैं। इन लोगों के अनुसार काव्य का प्राणभूत तत्त्व अलंकार ही है, रस तो अंगी अथवा उपकार रूप में होता है। भामह का विचार है कि जिस प्रकार कामिनी का मुख बिना आभूषण के शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार सरस काव्य की शोभा बिना अलंकारों के सुशोभित नहीं होती है।[5]

भामह के समान दण्डी तथा उद्भट ने भी अलंकारों को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' से अलंकार सम्प्रदाय की शोभा वृद्धि की है तो उद्भट ने मात्र अलंकारों का विवेचन करके इस प्रस्थान को पोषित किया है। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि दण्डी और उद्भट ने रस के महत्त्व को बताया है किन्तु उन्होंने अलंकार निरुपण को प्रमुखता दी है तथा काव्य के शोभावर्धक सम्पूर्ण तत्त्वों को अलंकार में ही अन्तर्भुक्त मान लिया है। नाट्य अलंकारों का अन्तर्भाव भी काव्य अलङ्कारों में ही किया है।

इस मत के अनुयायी परवर्ती आचार्य काव्य में रस की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी अलंकार को ही महत्त्व दिये हैं। अलंकारवादी आचार्य जयदेव, आचार्य मम्मट के 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो अलंकार से रहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को अनुष्ण क्यों नहीं मान लेते।[6] अलङ्कारसम्प्रदायवादी, काव्य में अलंकारों को रसवदलङ्कारों में ही अन्तर्भूत मान लिये हैं। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन् और समाहित ये चार प्रकार के रसवदलङ्कार माने जाते हैं। 'भामह[7] और दण्डी[8]' ने इन रसवद अलंकारों के भीतर ही रस का अन्तर्भाव किया है।

रीति सम्प्रदाय

अलङ्कार सम्प्रदाय के बाद रीति सम्प्रदाय का स्थान आता है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन हैं। वामन ने काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता के स्थान पर रीति की प्रधानता का प्रतिपादन किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[9] इनका प्रमुख सिद्धान्त है।

'रीति' को अन्य विद्वानों ने वृत्ति, प्रवृत्ति, वर्त्म अथवा मार्ग आदि कहा है। आचार्य राजशेखर के अनुसार पहले सुवर्णनाभ नामक आचार्य ने रीति विषयक ग्रन्थ की रचना की थी किन्तु नन्दिकेश्वर की भांति इनका भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।[10]

सर्वप्रथम अलङ्कार और गुणों का विभेद करने वाले आचार्य वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों को महत्त्व दिया है इन्होंने गुणों को काव्यशोभा के सम्पादक नित्य धर्म माना है।''[11] इन्होंने बताया है कि रीति का स्वरूप गुणों पर ही आधारित है 'विशिष्ट पद–रचना' ही रीति है, तथा माधुर्य गुणों से युक्त होना ही इस रचना का वैशिष्ट्य है।[12]

ध्वन्यालोक आचार्य आनन्दवर्धन की पद सङ्घटना भी रीति का ही एक परिष्कृत रूप है जो रस आदि को व्यक्त करती है।[13]

राजशेखर ने 'वचनविन्यासक्रम' को तथा भोजराज ने कविगमन मार्ग को 'रीति' कहा है। आचार्य विश्वनाथ ने 'रीति' का विशद विवेचन करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन का अनुकरण करके इसे रस से सम्बद्ध किया है।[14]

इस प्रकार काव्यशवास्त्रकारों ने एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में रीति को ग्रहण किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य माने जाते हैं। यद्यपि भामह[15] आदि सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति को महत्त्व दिया है तथापि कुन्तक के समान किसी ने वक्रोक्ति को काव्यात्मा के रूप में निरुपित नहीं किया है। उनके अनुसार शास्त्र तथा लोक–व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द–अर्थ की रचना से भिन्न मार्ग का अवलम्बन ही काव्य में विचित्रता उत्पन्न करके सौन्दर्य का आधान करता है। यह विचित्रता ही 'वक्रोक्ति' कहलाती है।[16] यही वक्रोक्ति काव्य का प्राण है, क्योंकि इसके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता है।

भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कारों की जीवनदायिनी बताते हुए कहा है कि वक्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य का अलङ्कार होता है। आचार्य दण्डी ने वक्राक्ति तथा स्वभावोक्ति के आधार पर वाङ्मय को दो भागों में विभाजित किया है। वक्रोक्ति के इस महत्त्व को देखकर सम्भवतः कुन्तक ने उसे काव्यात्मा पद

पर प्रतिष्ठित किया है। किन्तु यह सम्प्रदाय कुन्तक तक ही सीमित रहा गया। परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलङ्कार रूप में ही ग्रहण किया है।

औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इन्होंने 'औचित्य' को काव्य का प्राणतत्त्व माना है। इनका विचार है कि गुण तो गुण है, अलङ्कार तो अलङ्कार ही है परन्तु, रस सिद्ध काव्य की आत्मा 'औचित्य' है।[17]

औचित्य सिद्धान्त काव्याङ्गों को परिष्कृत उपादेय बनाने का कारण है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने सभी काव्याङ्गों के औचित्यपूर्वक प्रयोग को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार उचित प्रयोग के द्वारा ही काव्याङ्गों को उन–उन नामों से अभिहित किया जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'उचित' के भाव को औचित्य कहा है।[18]

आचार्य क्षेमेन्द्र काव्य को रस की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी वे 'औचित्य' को काव्य का प्राण मानते हैं। सभी आचार्यों ने काव्य में औचित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस सम्प्रदाय का समर्थन नहीं किया। अतः यह सम्प्रदाय भी आचार्य क्षेमेन्द्र तक ही सीमित होकर रह गया।

ध्वनि सम्प्रदाय

सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। इसके संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन है। इन्होंने काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को स्वीकार किया है।[19] अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही इन्होंने लिखा है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह पहले ही विद्वान काव्य तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जा चुका है।

ध्वनि की व्याख्या करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि शब्द व अर्थ दोनों ही जब अपनी समस्त विशेषताओं को गौण बनाते हुए किसी अर्थ–विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं तो उस समुदाय को जिसमें शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्य और व्यंजना व्यापार सम्मिलित हैं, ध्वनि कहा जाता है।[20]

साहित्याचार्य, वैयाकरण, नैयायिक, वेदान्ती, मीमांसक सभी ने अपने ग्रन्थ में इनका विरोध किया। व्यक्ति विवेककार आचार्य महिमभट्ट ने तो अपने ग्रन्थ का प्रयोजन–ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना ही बताया है।

किन्तु आचार्य मम्मट ने प्रबल युक्तियों से भी सभी मतों का खण्डन करके ध्वनि सिद्धान्त को पुनः स्थापित किया। इसलिये उन्हें 'ध्वनि प्रतिष्ठापक आचार्य' कहा जाता है। ध्वनिवादी आचार्यों में अभिनव गुप्त का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन आचार्यों ने गुण, अलङ्कार आदि के महत्त्व को प्रतिपादित करके उन्हें ध्वनि के उत्कर्षक रूप में स्वीकार किया।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों के दीर्घकाल के भीतर इन सम्प्रदायों का विकास और संघर्ष होता रहा है। इसी बीच में लगभग चालीस– पैंतालीस मुख्य आचार्यों ने इन साहित्यिक विकास के कार्यों में अपना योगदान किया है। परिस्थिति एवं औचित्य के अनुसार विद्वानों ने सम्प्रदायों के प्रति अपने–अपने तर्कसंगत विचार प्रस्तुत किये हैं। आचार्य भरत को रस में काव्यत्म तत्त्व दिखा तो इन्होंने रस को प्रधानता दी किन्तु परवर्ती भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों को अलंकार तत्त्व की प्रमुखता दिखी तो ये अलंकार सम्प्रदायवादी आचार्य सिद्ध हुए आचार्य वामन ने रीति को आत्मतत्त्व माना तो आचार्य क्षेमेन्द्र ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राणतत्त्व माना। इसी प्रकार औचित्य सम्प्रदाय आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा स्थापित हुआ और अन्त में सर्वमान्य एवं न्यायसंगत सम्प्रदाय ध्वनि सम्प्रदाय माना गया जिसके संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन थे। इस प्रकार प्रमुख सम्प्रदायों का उत्तरोत्तर विकास–संवर्धन एवं यथोचित पालन–पोषण होता रहा है।

सन्दर्भ–सूची

1. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, पृष्ठ 13–14
2. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, आचार्य राजशेखर, काव्य–मीमांसा, प्रथम अधिकरण।
3. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते, भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 6/31
4. आचार्य मम्मट, काव्य प्रकाश, पृष्ठ 100–109
5. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्, भामह, काव्यालंकार, 1/3
6. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलङ्कृती।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णवमनलं कृती।। जयदेव, चन्द्रालोक, 1/8
7. 'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।' भामह, काव्यालङ्कार, 3/6
8. 'मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।' दण्डी, काव्यादर्श, 3–51
9. 'रीतिरात्मा काव्यस्य', वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, 1/2/6
10. रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः। राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृष्ठ 3
11. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणा।
    तदतिशय हेतवस्त्वलङ्काराः। वामन, काव्यालंकारसूत्र, 1/2
12. विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। आचार्य वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, 1/2/7–8
13. व्यनक्ति या रसादीन्। आचार्य आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 3/5
14. रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत् उपकर्त्री रसादीनाम्। आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 9/1
15. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते
    यत्नोऽस्यां कविना कायः कोऽलङ्कारोऽनया विना। भामह, काव्यालङ्कार, 2/85
16. वक्रोक्तिः–प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, 1/1, वृत्ति।

17. अलङ्कारस्त्व लङ्काराः गुणा इव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।। आचार्य क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, कारिका–5

18. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, कारिका–7

19. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। आचार्य आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 1/1

20. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। आचार्य आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 1/3